मेवाड़ के शासक एवं जैनधर्म

□ श्री जसवन्तलाल मेहता, एडवोकेट
(जगदीश मन्दिर रोड, उदयपुर ३१३००१)

मेवाड़ भारतवर्ष के प्राचीनतम स्थानों में है। मेवाड़ में जैनधर्म उतना ही प्राचीन है, जितना उसका इतिहास। अति प्राचीन काल से मेवाड़ प्रदेश जैनधर्म का मुख्य केन्द्र रहा है। अजमेर-मेरवाड़ा के ग्राम बड़ली के शिलालेख में मध्यमिका नगरी का उल्लेख है।[1] मध्यमिका चित्तौड़ से केवल ७ मील दूर है जो वर्तमान में नगरी के नाम से प्रख्यात है। ब्राह्मीलिपि का वीर सम्वत् ८४ का यह बड़ली शिलालेख भारतवर्ष का प्राचीनतम शिलालेख माना जाता है।

मज्झिमिल्ला एवं मध्यमा शाखा

भगवान् महावीर के १०वें पट्टधर सुहस्ति सूरि (वीर संवत् २९०) के शिष्य आर्य सुस्थित सूरि एवं सुप्रतिबुद्ध सूरि (वीर संवत् ३२७) ने करोड़ बार सूरि मन्त्र का जाप कर कोटिक गच्छ निकाला। कोटिक गच्छ की चार शाखायें—उच्चानागरी, विद्याधरी, वयंरी एवं मज्झिमिल्ला निकलीं। सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध के शिष्य प्रियग्रन्थसूरि थे जिनका विहार-क्षेत्र मुख्यतया अजमेर के पास का क्षेत्र रहा। उनसे मध्यमा शाखा निकली। उस काल में आचार्यों के नाम अथवा कार्य के साथ-साथ नगर एवं क्षेत्र के नाम पर भी गच्छ एवं शाखाओं के नाम होने लग गये थे। ऐसी स्थिति में उक्त मज्झिमिल्ला अथवा मध्यमा शाखा का नाम भी इस मध्यमिका नगरी के आधार पर रहा है। उपरोक्त महावीर निर्वाण संवत् ८४ के शिलालेख में इस नगरी का नाम 'मज्झिमिके' अंकित है। अर्ध मागधी में इसे 'मज्झमिया' कहा गया है, प्राकृत एवं राजस्थानी भाषाओं में 'मझिमिका' कहा गया है। मध्यमिका इसी शब्द का परवर्ती रूप है। इस आधार पर भी मेवाड़ की इस नगरी के नाम पर जैन धर्म की इन शाखाओं का नामकरण होना अथवा यहीं से इनका उद्भव होना मानना उचित प्रतीत होता है।

प्राचीन काल में कई जैन साहित्यकार, दार्शनिक, भक्त एवं लेखक मेवाड़ में हुए। जैनाचार्य देवगुप्तसूरि (७९ वि० पू०) एवं यज्ञदेवसूरि (२३५ वि०) आदि का इस क्षेत्र में विचरण करने का उल्लेख मिलता है।[2] वृद्धिवादीसूरि ने कुमुदचन्द्र ब्राह्मण को जीत कर अपना शिष्य बनाया और आचार्य पद दिया जो सिद्धसेन दिवाकर के नाम से प्रख्यात हुए। सिद्धसेन दिवाकर का आविर्भाव काल राजा विक्रमादित्य को प्रतिबोध देने वाले होने से विक्रमी संवत् के प्रवर्तक विक्रमादित्य के काल से अधिकांश ग्रन्थों में माना गया है[3]। सिद्धसेन दिवाकर मेवाड़ में दीर्घकाल तक रहे थे। सिद्धसेन दिवाकर ने एक बार चित्तौड़ के एक चैत्य के पास एक विचित्र स्तम्भ देखा जिसमें कई ग्रन्थ संग्रहीत थे, उन्होंने शासन-देव की कृपा से कई ग्रन्थ प्राप्त किये। सिद्धसेन दिवाकर द्वारा विरचित ग्रन्थों में न्यायावतार, सन्मति प्रकरण मुख्य

१. नाहर जैन संग्रह भाग १, पृ० ९७.
२. वीरभमि चित्तौड़ श्री रामवल्लभ सोमानी, पृ० १५२.
३. कल्पसूत्र, स्थविरावली.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थ हैं। सिद्धसेन दिवाकर को जैन तर्कशास्त्र का आदिपुरुष कहा जाता है, उनके तर्कशास्त्र की व्याख्याएँ आज भी अखण्डित हैं। सिद्धसेन दिवाकर द्वारा विरचित कल्याणमन्दिरस्तोत्र, द्वात्रिंशिका आदि कई ग्रन्थ हैं। मेवाड़ के दूसरे प्रसिद्ध प्राचीनकाल के आचार्य हरिभद्रसूरि हैं जो चित्तौड़ के राजा जितारि के राजपुरोहित थे। उनके आविर्भाव काल के सम्बन्ध में भी मतभेद हैं। मुनिसुन्दर कृत गुर्वावली में इनको मानदेव सूरि का समकालीन माना है। अतः इनका आविर्भावकाल पांचवी शताब्दी होता है लेकिन जिनविजयजी ने कुवलयमाला के आधार पर इनका काल विक्रम की आठवीं शताब्दी माना है[1]। हरिभद्रसूरि बहुश्रुत विद्वान थे। उन्होंने समराइच्चकहा, धूर्ताख्यान, षड्दर्शन समुच्चय, शास्त्रवार्ता समुच्चय, अनेकान्तजयपताका, धर्मसंग्रहिणी, योग शतक, योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिन्दु, योगविंशिका, पूजा पंचाशिका, पंचाशक, अष्टक, षोडशका आदि १४४४ प्रकरण बनाये। कई ग्रन्थ चित्तौड़ में विरचित किये। हरिभद्रसूरि को धार्मिक प्रेरणा देने वाली प्रख्यात विदुषी एवं तपस्विनी साध्वी याकिनी महत्तरा की जन्म भूमि भी मेवाड़ है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के सिद्धसेन दिवाकर एवं हरिभद्र सूरि के अतिरिक्त कृष्णर्षि, प्रद्युम्न सूरि, जिनवल्लभसूरि, जिनदत्तसूरि एवं दिगम्बर विद्वान एलाचार्य, वीरसेनाचार्य, महाकवि डड्ढा, हरिषेण, सकलकीर्ति, भुवनकीर्ति मेवाड़ में उल्लेखनीय विद्वान् हुए हैं।

कृष्णर्षि विक्रम की नवीं शताब्दी में बड़े विख्यात जैन साधु हुए, जिन्होंने चित्तौड़ में कई व्यक्तियों को दीक्षित किया। इन्होंने अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया।[2]

प्रद्युम्न सूरि का मेवाड़ के गुहिल राजा अल्लट (वि०सं० १००८ से १०२८) की राजसभा में बड़ा सम्मान था। जिनवल्लभसूरि प्रारम्भ में कुर्चपुरीय गच्छ के श्री जिनेश्वर सूरि के शिष्य थे जो चैत्यवासी थे, फिर श्री अभयदेव सूरि के पास शिक्षार्थ आये एवं चैत्यवासियों की शास्त्रविरुद्ध प्रक्रियाओं से अप्रसन्न होकर इसे त्याग दिया एवं वि०सं० ११३८ के आसपास श्री अभयदेव सूरि के पास दीक्षा ली। इनका बहुत काल तक मेवाड़ में विचरण हुआ। चित्तौड़ में उस समय चैत्यवासी अधिक थे जिनकी आलोचना की एवं विधि चैत्यों की संस्थापना करवाई, चित्तौड़ उस समय मालवा के राजा नरवर्मा के अधिकार में था। राजा के दरबार में एक समस्या 'कण्ठे कुठार, कमठे ठकार' एक दक्षिणी पंडित ने भेजी, इसकी पूर्ति कोई नहीं कर सका। अतः जिनवल्लभसूरि के पास चित्तौड़ भेजी गई, सूरिजी ने शीघ्र पूर्ति कर दी, इससे राजा नरवर्मा बड़ा प्रसन्न हुआ एवं २ लाख मुद्रा देना चाहा, सूरिजी ने इन्कार कर दिया, एवं राजा को चित्तौड़ के नवनिर्मित मन्दिर की व्यवस्था के लिए कहा, जो की गई। वि०सं० ११६७ में जिनवल्लभसूरि का पट्ट महोत्सव चित्तौड़ में हुआ। उनके शिष्य जिनदत्तसूरि को पट्टधर बनाने का भव्य महोत्सव भी चित्तौड़ में हुआ[2]। मेवाड़ में जैन धर्म के सभी सम्प्रदायों ने धर्म-प्रचार में हाथ बँटाया है। तपागच्छ एवं तेरापंथ सम्प्रदाय का तो उद्भवस्थान मेवाड़ ही है। स्थानकवासी समाज का भी आरम्भ से ही प्रभाव पाया जाता है।

श्वेताम्बर के साथ-साथ दिगम्बर सम्प्रदाय का भी मेवाड़ दीर्घकाल तक विद्या का केन्द्र रहा है। यहाँ पर प्रसिद्ध साधु एलाचार्य हुए जिनसे वीरसेन ने चित्तौड़ में दीक्षा प्राप्त की। वीरसेनाचार्य ज्योतिष, छन्दशास्त्र, प्रमाण और न्यायशास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे, जिन्होंने धवला टीका पूर्ण की, इसमें ६२००० श्लोक बताये जाते हैं, इस ग्रन्थ की परिसमाप्ति शक सं० ७३८ में हुई।[3] हरिषेण चित्तौड़ का रहने वाला विद्वान् था जिसने धर्मपरीक्षा ग्रन्थ वि०सं० १०४४ में पूरा किया। प्राग्वाट (पोरवाड़) जातीय जैन विद्वान् महाकवि डड्ढा का प्राकृत ग्रन्थ पंच संग्रह भी बहुत प्रसिद्ध है। आचार्य सकलकीर्ति और भुवनकीर्ति मेवाड़ के बड़े उल्लेखनीय दिगम्बर विद्वान् थे।

---

१. जैन साहित्य संशोधक, अंक १, खण्ड १.

२. खरतरगच्छ पट्टावली।

३. वीरभूमि चित्तौड़, श्री रामवल्लभ सोमानी, पृ० १२०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐतिहासिक घटनाएँ, पुरातन महत्त्व और कलात्मक स्थापत्य यह प्रमाणित करते हैं कि जैन श्रमण संस्कृति का इस वीर-भूमि पर विशाल एवं गौरवशाली प्रभाव रहा है। मेवाड़ के शासकों का जैन धर्म के प्रति शताब्दियों से संरक्षण एवं श्रद्धा भी इसका एक मुख्य कारण है। मेवाड़ के महाराणाओं ने जैन धर्म को सम्बल दिया, इस सम्बन्ध में कतिपय प्रमाणों का संक्षिप्त उल्लेख द्रष्टव्य है—

यह बड़े खेद का विषय है कि कई महत्त्वपूर्ण प्रमाणों को हमने ही लुप्त अथवा नष्ट कर दिये हैं। सूक्ष्मदृष्टि से इस बिन्दु पर विचार करने पर यह एक अनहोनी बात प्रतीत होगी क्योंकि हम ही ऐसे प्रमाणों को लुप्त अथवा नष्ट क्यों करें? लेकिन जितना गहन अध्ययन किया जावे, इसकी पुष्टि और ज्यादा मजबूती के साथ होती है। सर्वप्रथम मन्दिरों के जीर्णोद्धार एवं प्रतिष्ठा के प्रश्न को ही लिया जावे। जैन मन्दिरों के जीर्णोद्धार के समय कई स्थानों पर मन्दिर के पुरातत्त्व को मिटाने का प्रयास किया जाता है। पुरानी प्रशस्ति हटा दी जाती है ताकि यह मालूम नहीं हो सके कि पूर्व में कब और किस व्यक्ति द्वारा मन्दिर निर्माण एवं किस आचार्य की निश्रा में प्रतिष्ठा अथवा जीर्णोद्धार का कार्य सम्पन्न हुआ है। इसके दो कारण हैं, प्रथम तो नये जीर्णोद्धार कराने व करने वाले की यह इच्छा रहे कि उसी की नामवरी हो। द्वितीय पूर्व के उन आचार्यों का नाम जाहिर नहीं हो पाये जो अन्य गच्छ के थे। नये जीर्णोद्धार किये मन्दिरों में जीर्णोद्धार कराने वाले मुनिगण की नामावली का कई पट्टावली तक वर्णन मिल जावेगा और बड़े-बड़े शिलालेखों पर इसका सुन्दर लिपि में अंकन मिलेगा लेकिन मन्दिर निर्माण एवं पूर्व के जीर्णोद्धार करने व कराने वाले महानुभावों का कोई वर्णन नहीं मिलेगा। फलतः ऐसे स्थानों का इतिहास जानना कठिन ही नहीं, असम्भव हो जाता है अतः दन्तकथाओं का आश्रय लिया जाता है जो इतिहासकार कभी पसन्द नहीं करता। क्या ही अच्छा हो, नवीन जीर्णोद्धार के लेख के साथ पूर्व के जीर्णोद्धार व मन्दिर निर्माण का भी संक्षिप्त विवरण दिया जावे। द्वितीय, हस्तलिखित पुस्तकों के संकलन एवं प्रकाशन की ओर कोई खास ध्यान नहीं दिया गया है। बहुत सी अमूल्य सामग्री पाटन, खम्भात, अहमदाबाद आदि स्थानों पर चली गई है, कुछ ताले में बन्द है। विगत कई वर्षों से मेवाड़ में साधु, मुनि-राज द्वारा विचरण प्रायः बन्द सा हो जाने से एवं यति समुदाय की ओर ध्यान नहीं देने से यह सामग्री भी लुप्त हो रही है एवं पता लगाना भी कठिन हो रहा है। इस सम्बन्ध में यह बताना उचित समझता हूँ कि अगर जैन मुनियों के कुछ ग्रन्थ नहीं मिलते तो मेवाड़ का इतिहास अधूरा ही रहता। यह मत मेरा ही नहीं अपितु कई सुप्रसिद्ध इतिहासकारों का भी है। सुप्रसिद्ध इतिहासकार कर्नल टाड ने मांडल उपासरे के यति श्री ज्ञानचन्द्रजी को अपना गुरु माना है एवं इस उपासरे के संग्रह के आधार पर इतिहास के कई पृष्ठ लिखे हैं। क्या ही अच्छा हो, मुनिवर्ग इस ओर भी अपना ध्यान देवें और इस अमूल्य निधि का संकलन ही नहीं अपितु अनुवाद के साथ प्रकाशन करावें।

मौर्य वंश, राजा संप्रति एवं चित्रांग

समस्त पश्चिमी भारत पर सम्राट अशोक के पौत्र सम्प्रति का राज्य था और मेवाड़ इसी राज्य का एक अंग था। सम्प्रति जैन धर्म का महान प्रचारक था। उस समय जीवहिंसा का पूर्ण निषेध था। चित्तौड़गढ़ को मौर्य वंश के जैन राजा चित्रांग ने बसाया। चित्तौड़ में सातवीं शताब्दी तक मौर्यों का ही राज्य रहा।

राजा भर्तृभट, अल्लट एवं वैरिसिंह

मेवाड़ के राजाओं की जैन श्रमण संस्कृति के प्रति श्रद्धा के प्रश्न पर राजा गुहिल से मेवाड़ के शासकों की वंशावली की शृंखला ली जावे तो इस शृंखला के अनुसार सत्रहवीं पीढ़ी में भर्तृभट द्वितीय राजा हुआ जिसने वि०सं० १००० में भर्तृपुर (भटेवर) गाँव बसा गढ़ बनवाया तो सर्वप्रथम श्री आदिनाथ भगवान के चैत्य के निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया एवं इसका नाम गुहिल विहार रखा गया। इसी गाँव से जैनों का भर्तृपुरीय (भटेवर) गच्छ निकला। इन्हीं राजा भर्तृभट का पुत्र राजा अल्लट (आलूरावल) था जो राजगच्छ के आचार्य प्रद्युम्नसूरि का भक्त था। राजा

अल्लट ने चित्तौड़ किले पर महावीर स्वामी का मन्दिर बनवाया[1], राजा अल्लट ने आघाटपुर (आयड़) में जिनालय निर्माण कराकर श्री यशोभद्रसूरि द्वारा श्री पार्श्वनाथ प्रभु की मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई। रावल अल्लट के समय में श्वेताम्बरों को राज्याश्रय मिला, अल्लट के मन्त्रियों में कई जैन थे जिन्होंने कई मन्दिर बनवाये। अल्लट की राणी हरियादेवी को रेवती दोष था जिसे बलभद्र सूरि ने दूर किया।[2] अल्लट ने सारे राज्य में विशिष्ट दिन जीवहिंसा एवं रात्रिभोजन निषेध कर दिया। राजा अल्लट के बाद वैरिसिंह के समय आयड़ में जैनधर्म के बड़े-बड़े समारोह हुए एवं ५०० प्रमुख जैनाचार्यों की एक महत्त्वपूर्ण संगति आयोजित हुई।

राजा जैत्रसिंह एवं तपागच्छ

राजा जैत्रसिंह (वि०सं० १२७० से १३०६) के राज्यकाल में आघाटपुर (आयड़) में प्रख्यात जैनाचार्य श्री जगच्चन्द्र सूरि द्वारा १२ वर्षों तक कठोर आयंबिल तपस्या कर कई भट्टारक को जितने से राजा जैत्रसिंह प्रभावित हुए एवं आचार्य श्री जगच्चन्द्र सूरि को विक्रम सं० १२८५ में तपाविरुद दिया जिससे तपागच्छ चला।[3] चित्तौड़ की राज्यसभा में इन्हीं राजा ने जगच्चन्द्र सूरि को 'हिरा' का विरुद दिया, जिससे इनका राम 'हिरला जगच्चन्द्र सूरि' प्रख्यात हुआ।[4]

राजा कर्णसिंह एवं ओसवाल गोत्रोप्ति

विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में मेवाड़ के राजा कर्णसिंह के पुत्र माहप, राहप, श्रवण, सखण हुए जिनसे राणा शाखा निकली। इस समय इस राज्य परिवार से ओसवाल वंश की दो गोत्रों का प्रादुर्भाव हुआ।[5]

शिशोदिया सरूपरिया गोत्र

मेवाड़ के राजा रावल कर्णसिंह के पुत्र श्रवणजी ने विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में यति श्री यशोभद्रसूरि (शान्तिसूरि) से जैन धर्म एवं श्रावक के बारह व्रत अंगीकार किये तब ही से इनके वंशज जैन मतानुयायी हुए और शिशोदिया गोत्र के नाम से प्रसिद्ध हुए। इस गोत्र की दो शाखाएँ बाद में हुई। एक बेंगूं और दूसरी उदयपुर में बस गई। इसी गोत्र में आगे जाकर डूँगरसिंह नामी व्यक्ति हुए जो राणा लाखा के कोठार के काम पर नियुक्त थे, इनकी सेवाओं से प्रसन्न होकर महाराणा ने सरोपाव एवं सूरपुर गाँव जागीर में दिया, तब से शिशोदिया गोत्र की यह शाखा सूरपुर नाम पर सरूपरिया नाम से विख्यात हुई। डूँगरसिंह ने इन्दौर स्टेट में रामपुरा के पास श्री आदिश्वर का मन्दिर बनवाया। इसी खानदान में दयालदास के नाम के प्रसिद्ध व्यक्ति हुए जिनको राणा राजसिंह ने प्रधानमन्त्री बनाया जिनके द्वारा राजसमुद्र के पास वाली पहाड़ी पर श्री आदिनाथजी का भव्य मन्दिर बनवाया गया जो दयालशाह के देवरे के नाम से प्रसिद्ध है।[6]

शिशोदिया मेहता गोत्र

मेवाड़ के रावल कर्णसिंह के सबसे छोटे पुत्र सखण ने जैनधर्म अंगीकार किया। सखण के पुत्र सरीपत को राणा राहप ने सात गांव जागीर में दे मेहता पदवी दी, तबसे इनके वंश वाले मेहता (शिशोदिया मेहता) कहलाते हैं। इनकी तीसरी पीढ़ी में हरिसिंह एवं चतुर्भुजजी नामांकित व्यक्ति हुए, जिनको पाँच गाँव के पट्टे मिले, जिनको इन्होंने

---

१. जैन परम्परा नो इतिहास, त्रिपुटि महाराज, पृ०४९२.
२. वीरभूमि चित्तौड़, श्री रामवल्लभ सोमानी, पृ० १५७.
३. जैन परम्परा नो इतिहास, त्रिपुटि महाराज, पृ० ४९३.
४. वही.
५. ओसवाल जाति का इतिहास, श्री सुखसम्पतराज, पृ० ३९३.
६. ओसवाल जाति का इतिहास, सुखसम्पतराज भण्डारी, पृ० ३९३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बसाये[१]। सरीपत के वंशज सम्राट अकबर द्वारा किये गये चित्तौड़ पर आक्रमण के समय चित्तौड़ के अन्तिम (तीसरे) साके में लड़े और काम आये, केवल मेघराज जो राणा उदयसिंहजी के बड़े विश्वासपात्र थे, वे इस लड़ाई के पूर्व ही महाराणा उदयसिंह के साथ चित्तौड़ से निकल गये और बच गये। वर्तमान का सारा कुटुम्ब मेघराज का वंश है। मेहता मेघराज ने उदयपुर में मेहतों का टिम्बा बसाया एवं सबसे पहला श्री शीतलनाथजी का विशाल जैन मन्दिर बनवाया।[२] उदयपुर नगर के महलों का सबसे पुराना भाग राय आंगन, नेका की चौपड़, पाण्डे की ओवरी, जनाना रावला (कोठार), नौचोकी सहित पानेडा, महाराणा उदयसिंहजी ने बनवाये[3]। पुरानी परम्परा थी कि गढ़ की नींव के साथ मन्दिर की नींव दी जाती थी। तदनुसार राजमहल के इस निर्माण कार्य के साथ श्री शीतलनाथजी के उक्त मन्दिर का शिलान्यास एक ही दिन वि०सं० १६२४ में सम्पन्न हुआ। बताते हैं, इस मन्दिर के मूलनायक की प्रतिमा भी चित्तौड़ से लाई गई थी। इसी मन्दिर के साथ एक विशाल उपाश्रय भी है जो तपागच्छ का मूल स्थान है जहाँ के पट्ट आचार्य श्रीपूज्यजी कहलाते थे जिनके सुसंचालन में भारत के समस्त तपागच्छ की प्रवृत्तियाँ चलती थीं। संवेगी साधु समाज का प्रादुर्भाव होने के पश्चात् भी तपागच्छ के संवेगी मुनिवर्ग को उदयपुर नगर में व्याख्यान हेतु अनुमति लेनी पड़ती थी। इतना ही नहीं, यहाँ के श्रीपूज्यों को राज्य-मान्यता थी। जब कभी श्रीपूज्यजी का उदयपुर नगर में प्रवेश होता तो यहाँ के महाराणा अपने महलों से करीब दो मील आगे तेलियों की सराय, वर्तमान भूपाल नोबल्स कॉलेज तक अगवाई के लिए जाते थे। प्रतिक्रमण में लघुशान्ति की प्रविष्टि भी इसी स्थान से हुई। मेहता मेघराज के पुत्र वेरीसाल से दो शाखायें चलीं—ज्येष्ठ पुत्र अन्नाजी की सन्तति टिम्बे वाले एवं लघु पुत्र सोनाजी की सन्तति ड्योढी वाले मेहता के नाम से प्रसिद्ध हुई[४], जो सदियों से जनानी ड्योढी का कार्य करते रहे हैं। मेहता मेघराज की ११वीं पीढ़ी में मेहता मालदास हुए जिन्होंने वि०सं० १८४४ में मेवाड़ एवं कोटा की संयुक्त सेना के सेनापति होकर मरहठों से निकुम्भ, जिरण, निम्बाहेड़ा लेकर इन पर अधिकार किया और हड़क्याखाल के पास युद्ध का नेतृत्व किया। इन्हीं के नाम से मालदासजी की सेहरी, उदयपुर नगर का समृद्ध मोहल्ला है।[५]

राणाओं के पुरोहित

ऐसा कहते हैं कि राणा राहप को कुष्ठ रोग हो गया जिसका इलाज सांडेराव (गोड़वाड) के यति ने किया। जब से इन यति एवं इनके शिष्य परम्परा का सम्मान मेवाड़ के राणाओं में होता रहा। उक्त यति के कहने से उनके एक शिष्य सरवल, जो पल्लीवाल जाति के ब्राह्मण का पुत्र था, को राहप ने अपना पुरोहित बनाया, तब से मेवाड़ के राणाओं के पुरोहित पल्लीवाल ब्राह्मण चले आते हैं। इसके पूर्व चौबीसे ब्राह्मण थे। डूंगरपुर एवं बांसवाड़ा के राजाओं के पुरोहित अब तक चौबीसे ब्राह्मण हैं।[६]

महाराणा तेजसिंह एवं समरसिंह

जत्रसिंह के पीछे उसका पुत्र तेजसिंह मेवाड़ का स्वामी हुआ जिसके विरुद महाराजाधिराज, परमभट्टारक, परमेश्वर आदि मिलते हैं। जैसाकि उपरोक्त लेख से प्रतीत होगा कि तपागच्छ का प्रादुर्भाव, वंशोत्पत्ति, जैन मन्दिर निर्माण आदि कारणों से मेवाड़ के राज्य वंश का जैनधर्म से बड़ा अच्छा सम्बन्ध हो गया था, यह सम्बन्ध तेजसिंह एवं उसके पुत्र समरसिंह के शासनकाल में और भी ज्यादा गहरा हुआ। तेजसिंह के समय जैनधर्म की अभूतपूर्व उन्नति

१. ओसवाल जाति का इतिहास, सुखसम्पतराज भण्डारी, पृ० ३६६.
२. मेवाड़ के जैन वीर, जोधसिंह मेहता।
३. राजपूताना का इतिहास, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, पृ० ७३३.
४. लेखक के पिता श्री अर्जुनलाल मेहता द्वारा संकलित वंशावली।
५. मेवाड़ के जैन वीर, श्री जोधसिंह मेहता।
६. राजपूताना का इतिहास, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, पृ० ५१०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुई। तेजसिंह की पटराणी जयतल्ल देवी ने चित्तौड़ पर भर्तृपुरीय (भटेवर) गच्छ के जैनाचार्य के उपदेश से सं० १३३२ में श्याम पार्श्वनाथ का मन्दिर बनवाया।[१] राणी जयतल्ल देवी की जैनधर्म पर अधिक श्रद्धा थी। राणी जयतल्ल देवी की श्रद्धा एवं अंचलगच्छ के आचार्य अमितसिंह सूरि के उपदेश से राणा तेजसिंह के पुत्र समरसिंह ने अपने राज्य में जीवहिंसा पर रोक लगा दी। राणा समरसिंह ने उक्त श्याम पार्श्वनाथ के अपनी माता द्वारा बनवाये गये मन्दिर के पास पौषधशाला हेतु भूमि दी एवं इस मन्दिर व उपाश्रय की स्थायी व्यवस्था हेतु कुछ हाट (दुकानें) एवं बाग की भूमि भटेवरगच्छ के आचार्य प्रद्युम्नसूरि को दीं और चित्तौड़ की तलहटी, आघाटपुर (आहड़), खोहर और सज्जनपुर के सायर के महकमों से रकम दी जाने की व्यवस्था की ताकि व्यय की व्यवस्था स्थायी रूप से चलती रहे।[२] इस सम्बन्धी एक शिलालेख मन्दिर के द्वार पर बने छबने पर खुदा हुआ चित्तौड़ के पुराने महलों के चौक में गड़ा हुआ मिला है। यह शिलालेख सं० १३३५ वैसाख सुदि ५ का है। इस शिलालेख के मध्य में श्री पार्श्वनाथ की प्रतिमा खुदी हुई है जिससे यह प्रकट है कि यह छबना जयतल्ल देवी के बनाये हुए श्याम पार्श्वनाथ के मन्दिर के द्वार का है।[३] यह मन्दिर बाद के आक्रमण में मिसमार हो गया।

राणा लाखा, मोकल एवं कुम्भा

मेवाड़ के राणा लाखा (लक्षसिंह) (वि० सं० १४३९ से १४७८), राणा मोकल (वि० सं० १४७८ से १४९०) राणा कुम्भा (वि० सं० १४९० से १५२५) के समय में भी मेवाड़ के राणाओं पर जैन धर्म का बहुत प्रभाव रहा है। कई जैन मन्दिरों का निमार्ण एवं जीर्णोद्धार हुआ है जिनके कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं कि राणा लाखा के समय वि० सं० १४७६ में आसलपुर दुर्ग में श्री पार्श्वनाथ चैत्य का जीर्णोद्धार हुआ, वि० सं० १४७८ में राणा मोकल के समय में जावर के जैन-मन्दिरों का निर्माण कराया गया। वि० सं० १४८५ में संघपति गुणराज द्वारा चित्तौड़ के कीर्ति स्तम्भ का जीर्णोद्धार कराया एवं इस कीर्तिस्तम्भ के पास महावीर स्वामी का मन्दिर बनवाया गया।[४] वि० सं० १४९१ एवं १४९४ के नागद्रह (नागदा) एवं देवकुल-पाटकपुर (देलवाड़ा) के कई जैन मन्दिरों के शिलालेख हैं जिनसे यह जाहिर है कि यहाँ खरतरगच्छ के आचार्य श्री जिनवर्द्धनसूरि, जिनसागरसूरि, जिनचन्द्रसूरि एवं सदानन्दसूरि ने कई प्रतिष्ठा उत्सव राणा कुम्भा के काल में कराये। देलवाड़े के मन्दिर विशाल एवं बावन जिनालय वाले हैं। मन्दिर भव्य एवं कलात्मक हैं, एक मन्दिर को देखने से तो आबू के दिलवाड़ा मन्दिरों की याद ताजा हो जाती है। मन्दिर की कारीगरी देखने से ऐसा अनुमान होता है कि मन्दिर की कला ही दोनों स्थानों के नाम देलवाड़ा पुकारे जाने का आधार रहा हो। इस मन्दिर की एक विशेषता तो आबू के मन्दिरों से भी ज्यादा यह है कि मन्दिर के बिल्कुल बाहर के भाग में बहुत ही सुन्दर कोराणी कराई गई है जिसको देखते हुए वहाँ से हटने की इच्छा नहीं होती है।

इस स्थान पर राजमन्त्री रामदेव श्रेष्ठी, वीसल एवं श्रेष्ठी गुणराज के परिवारों का उल्लेख करना भी आवश्यक है। रामदेव का नवलखा परिवार महाराणा खेता (क्षेत्रसिंह, वि० सं० १४३१ से १४३९) के समय से ही प्रसिद्ध रहा है। वि० सं० १४९४ के नागदा के अद्भुतजी की मूर्ति के लेख में इस परिवार की परम्परा दी गई है। रामदेव महाराणा खेता एवं उसके पुत्र लाखा के समय मन्त्री था। रामदेव के दो पुत्र सहण एवं सारंग महाराणा कुम्भा एवं मोकल के समय में मुख्य मन्त्री थे। यह परिवार देलवाड़े का रहने वाला था।[५] नागदा व देलवाड़ा की कई मूर्तियों के लेख में इस परिवार का नाम है। अन्य कई मूर्तियों के लेख एवं ग्रन्थ प्रशस्तियाँ इस परिवार की मिली हैं। रामदेव नवलखा की एक पुत्री का विवाह विसल से हुआ, विसल के पिता ईडर के राजा रणमल का मन्त्री था। विसल के

---

१. राजपूताना का इतिहास, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, पृ० ८०, ८२.

१. राजपूताने का इतिहास, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, पृ० ४८०.

३. वही,

४. जैन परम्परा नो इतिहास, त्रिपुटी महाराज, पृ० ३४.

५. वीरभूमि चित्तौड़, श्री रामवल्लभ सोमानी, पृ० १६१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिवार ने आचार्य सोमसुन्दरसूरि के काल में कई मन्दिरों की प्रतिष्ठा कराई, संघ निकाले, ग्रन्थ लिखवाये, चित्तौड़ में श्रेयांसनाथ का मन्दिर बनवाया। श्रेष्ठी गुणराज चित्तौड़ एवं अहमदाबाद का रहने वाला था, जिसने विशाल संघ निकाला, जिसमें राणकपुर के मन्दिर बनाने वाला धरणशाह भी शामिल था। गुणराज गुजरात के बादशाह की सभा का सदस्य था एवं उसका पुत्र महाराणा मोकल की सभा का सदस्य।

राणकपुर के प्रसिद्ध मन्दिर की प्रतिष्ठा भी महाराणा कुम्भा के राज्यकाल वि०सं० १४९६ में हुई। आचार्य श्री सोमचन्द्रसूरि ने इस मन्दिर की प्रतिष्ठा कराई। इस मन्दिर में राणा कुम्भा ने पाषाण के दो स्तम्भ बनवाये। राणकपुर के मन्दिर के निर्माण सम्बन्धी यह प्रमाण मिलता है कि राणा कुम्भा के प्रीतिपात्र शाह गुणराज के साथ रहकर नदिया ग्राम निवासी प्राग्वाट वंशी सागर के पुत्र कुरपाल के बेटे रत्नसा एवं धन्नासा ने "त्रैलोक्यदीपक" नामक युगादीश्वर का ४८००० वर्गफीट जमीन पर एवं १४४४ विशाल प्रस्तर स्तम्भों पर सुविशाल चतुर्मुख मन्दिर महाराणा की आज्ञा पाकर बनवाया।[1] इसी तरह से राणा कुम्भा के प्रीतिपात्र शाह गुणराज ने अजाहरी (अजारी), पिण्डरवाटक (पिण्डवाड़ा) तथा सालेरा के नवीन मन्दिर बनवाये और कई पुराने मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया।[2] महाराणा कुम्भा के श्रेय से कुम्भा के खजांची वेला (वेलाक) ने वि० सं० १५०५ में चित्तौड़ में शान्तिनाथ का सुन्दर मन्दिर बनवाया (एक मतानुसार जीर्णोद्धार कराया), जिसको इस समय शृंगारचंवरी कहते हैं।[3] इस मन्दिर के पास वि० सं १५१० के दो और जैन मन्दिर हैं। इसी तरह से राणा कुम्भा के समय के बसन्तपुर, मूला आदि स्थानों के जैन मन्दिर विद्यमान हैं। मचिन्द दुर्ग पर महाराणा कुम्भा द्वारा निर्मित जैन मन्दिर होने का भी प्रमाण यह मिलता है कि महाराणा जगतसिंह (वि० सं० १६८४ से १७०६) ने इस मन्दिर के जीर्णोद्धार हेतु फरमान निकाला। राणा कुम्भा ने अचलगढ़ (आबू) का दुर्ग बनवाया। अचलगढ़ के जैन मन्दिर की प्रतिष्ठा भी इसी समय वि० सं० १५१८ में हुई। राणा कुम्भा के समय के कई शिलालेख भी मिलते हैं जिनसे उसका जैन धर्म के प्रति श्रद्धा एवं संरक्षण स्पष्टतया प्रकट है, इन शिलालेखों में वि० सं० १४९१ कार्तिक सुदि ४ का देलवाड़े का शिलालेख, वि० सं० १४९४ माघ सुदि ११ का नागदा के अदबुद जी (शान्तिनाथजी) की अतिविशाल मूर्ति के आसन का शिलालेख, वि० सं० १४९६ का राणकपुर मन्दिर का शिलालेख, वि० सं० १५०६ असाढ़ सुदि २ का देलवाड़ा (आबू) का शिलालेख, वि०सं० १५१८ वैसाख विद ४ का अचलगढ़ के जैन मन्दिर में आदिनाथजी की विशाल प्रतिमा के आसन पर खुदा शिलालेख मुख्य हैं। राणा कुम्भा ने आबू पर जाने वाले जैन यात्रियों पर जो कर लगता था उसे उठाकर यात्रियों के लिये बड़ी सुगमता कर दी जिसकी पुष्टि आबू देलवाड़ा के विमलशाह एवं वस्तुपाल-तेजपाल द्वारा बनाये गये मन्दिरों के मध्य चौक में एक वेदी पर लगे शिलालेख से होती है जिसमें आबू पर जाने वाले यात्रियों के दाण, मुंडिक, वालावी (यानि राहदारी, प्रति यात्री से लिये जाने वाला कर), मार्ग रक्षा कर तथा घोड़े, बैल आदि का जो कर लिया जाता था उसे माफ करने का उल्लेख है।[4] उस समय आबू प्रदेश राणा कुम्भा ने ले लिया था, जो मेदपाट, मेवाड़ का ही एक अंग था। राणा कुम्भा आचार्य सोमसुन्दरसूरि, कमलकलशसूरि, सोमजयसूरि के भक्त थे। तपागच्छ के सोमदेव वाचक का राणा कुम्भा बड़ा सम्मान करते थे। हीराचन्दसूरि को महाराणा कुम्भा गुरु मानता था, इनका राजसभा में बड़ा सम्मान था और इन्हें 'कविराज' की उपाधि भी दी थी।[5] राणा कुम्भा के समय के निम्न परवाने से कुम्भा के जैन धर्म के प्रति श्रद्धा का सहज अनुमान लगाया जा सकता है—

---

१. राजपूताने का इतिहास, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, पृ० ६२५.
२. भावनगर इंस्क्रिप्शन, पृ० ११४, ११५,
३. राजपूताना म्यूजियम की रिपोर्ट, ई०स० १९२०-२१, पृ० ५, लेख सं० १०.
४. राजपूताने का इतिहास, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, पृ० ६३०-६३६.
५. वीरभूमि चित्तौड़, रामवल्लभ सोमानी, पृ० ११८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वस्ति श्री एकलिंगजी परसादातु महाराजाधिराज महाराणाजी श्री कुम्भाजी आदेसातु मेदपाट रा उमराव, थानेदार, कामदार समस्त महाजन पंचकास्य अप्रं आपणे अठे श्रीपूज तपागच्छ का तो देवेन्द्रसूरिजी का पंथ का तथा पुनम्यागच्छ का हेमाचारजजी को परमोद है। धरमज्ञान बतायो सो अठे अणा को पंथ को हावेगा जणीने मानांगा पूजागा। परथम (प्रथम) तो आगे सु ही आपणे गढ़ कोट में नींव दे जद पहीला श्री रिषभदेव जी रा देवरा री नींव देवाड़े है, पूजा करे है, अबे अजु ही मानेगा, सिसोदा पग का होवेगा ने सुरेपान (सुरापान) पावेगा नहीं और धरम मुरजाद में जीव राखणो, या मुरजाद लोपागा जणी ने महासता (महासतियों) की आण है और फेत्र करेगा जणी ने तलाक है, सं० १४९१ काती सु० ५।[1]

राणा रायसिंह एवं सांगा

राणा रायसिह (वि० सं० १५३० से १५६६) एवं राणा सांगा (वि० सं० १५६६ से १५८४) के समय में भी जैन धर्म की बड़ी प्रगति हुई—खरतरगच्छ, तपागच्छ, चैत्रगच्छ, बृहद्गच्छ, भृतपुरीयगच्छ, आंचलगच्छ के कई साधुओं का विचरण मेवाड़ में था। इस काल में जैनग्रन्थ लेखन कार्य बहुत हुआ। वि०सं० १५५३ में विनयराजसूरि द्वारा उपासकदशांग चरित्र लिखा गया, वि० सं० १५५५ में शत्रुंजय माहात्म्य, वि० सं० १५७४ में पार्श्वपुराण, वि०सं० १५९७ में स्थानांगसूत्र की प्रतिलिपियाँ कराई गईं। राणा सांगा जैनाचार्य धर्मरत्नसूरि का परमभक्त था। धर्मरत्नसूरि के आवागमन के समय कई मील उनके सामने गया था, उनके व्याख्यान सुने एवं शिकार भी कुछ समय के लिए छोड़ दिया था।[2]

राणा रतनसिंह एवं मंत्री कर्मासिंह

मेवाड़ के राणा रतनसिंह द्वितीय (वि० सं० १५८४ से १५८८) के मन्त्री, कर्मासिंह (कर्मराज) कर्माशाह ने वि० सं० १५८७ वैसाख विद ६ को शत्रुंजय का सातवाँ उद्धार कराया और पुण्डरीक के मन्दिर का जीर्णोद्धार करा उसमें आदिनाथ की प्रतिमा स्थापित की।[3] इस कार्य के लिये ऐसा कहा जाता है कि कर्मसिंह ने राणा रत्नसिंह की सिफारिश से गुजरात के सुलतान बहादुरशाह से फरमान प्राप्त कर शत्रुंजय का उद्धार कराया क्योंकि मुसलमानों के समय बहुधा मन्दिर बनाने की मनाई थी।[4] लेकिन एक मत यह कि गुजरात का शाहजादा बहादुरशाह भागकर राणा सांगा की शरण में चित्तौड़ आगया। कर्माशाह ने उसे विपत्ति के समय एक लाख रुपये इस वास्ते दिये कि जब वह गुजरात सिंहासन पर बैठे तब शत्रुंजय की प्रतिष्ठा कराने की आज्ञा देवे। कालान्तर में जब वह गुजरात का बादशाह बन गया, तब उसने पूर्व वचनानुसार कर्माशाह को अनुमति दी।[5]

राणा प्रतापसिंह (वि० सं० १६२८ से १६५३)

राणा प्रताप का राज्यकाल प्राय: संघर्ष में ही बीता। समय-समय पर एक स्थान को छोड़कर दूसरे,

---

१. राजपूताना के जैनवीर, अयोध्याप्रसाद गोयल, पृ० ३४०.
२. वीरभूमि चित्तौड़, रामवल्लभ सोमानी, पृ० १६५.
३. शत्रुंजय का शिलालेख वि० सं० १७८७.
४. राजपूताने का इतिहास, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, पृ० ७०३.
५. वीरभूमि चित्तौड़, रामवल्लभ सोमानी, पृ० १६६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरे को छोड़कर तीसरे पर जाते रहे एवं 'मारो और भागो' की नीति अपनाई। इस संघर्षमय जीवन में भी इनका धर्मप्रेम बहुत प्रबल था। जगतगुरु आचार्य हीरविजयसूरि एवं उनके शिष्यों के लिये अत्यधिक मान था। जब कभी तपागच्छ के पट्टधर साधुओं का आना होता था तो सामने लेने जाते थे। यह मर्यादा बराबर कायम रही और जब-जब तपागच्छ के पट्टधर (शीतलनाथजी के उपासरे के श्रीपूज्यजी) का आवागमन उदयपुर में होता तब-तब तेलियों की सराय (वर्तमान भूपाल नोबल्स कालेज) तक उदयपुर के महाराणा अगवाई के लिये जाते थे। मन्दिर एवं उपासरे की मर्यादा बराबर कायम रखते। इसकी पुष्टि राणा प्रताप के निम्न पत्र से होती है जो हीरविजयसूरि को सं० १६३५ में मेवाड़ में पधारने हेतु निमन्त्रण स्वरूप लिखा गया—

'स्वस्ति श्री मुसुंदु (मेवाड़ का ग्राम) महाशुभस्थाने सरब ओपमा लायक भट्टारक महाराज श्री हीरविजेसूरि जी चरण कमलायणे स्वस्त श्री बजेकटक चावंडेरा (चामुडेरी) सुथाने महाराजाधिराज श्री राणा प्रतापसिंघजी ली० पगे लागणों बंचसी, अठारा समाचार भला है, आपरा सदा भला छाईजे, आप बड़ा है, पूजणीक है, सदा करपा राखे जी सू ससह (श्रेष्ठ) रखावेगा, अप्रं अपारो पत्र अणा दना म्हे आया नहीं सो करपा कर लगावेगा। श्री बड़ा हुजूर री वगत पदारवो हुवो जी में अठासूँ पाछा पदारता पातसा अकब्रजी ने जेनाबाद म्हें ग्रानरा (ज्ञानरा) प्रतिबोध दी दो, जीरो चमत्कार मोटो बताया जीव हंसा (जीवहिंसा) छरकली (चिड़िया) तथा नाम पंषेरु (पक्षी) ने तीसो माफ कराई, जीरो मोटो उपकार कीदो सो श्री जेनरा ध्रम रो आप असाहीज अदोतकारी (उद्योतकारी) अबार कीसे (समय) देखता आप जू फेर वे न्हीं आवी, पूरब हिदस्थान अत्रवेद सुदा चारू (४) दसा म्हे धरम रो बड़ो अदोतकार देखाणो, जठा पछे आपरो पदारणो हुवो न्हीं सो कारण कहीवेगा पदारसी आगे सू पटा प्रवाना कारण रा दस्तूर माफक आप्रे है जी माफक तोल मुरजाद सामो आवारी कसर पड़ी सुणी जो काम कारण लेखे भूल रही वेगा, जीरो अदेसो न्ही जाणेगा, आगे सु श्री हेमाआचारजी ने श्री राज म्हे मान्यता है, जी रो पटो कर देवाणो जी माफक अरो पगरा भटारख गादी प्र आवेगा तो पटा माफक मान्या जावेगा श्री हेमाचारजी पेला श्री बड़गच्छ रा भटारख जी बड़ा कारण सुं श्री राज म्हे मान्या जी माफक आपने आपरा पगरा गादी प्रपाट हुवी तपागच्छ राने मान्या जावेगारी "सुवाये देस म्हें आपरे गच्छ रो देवरो तथा उपासरो वेगा, जी रो मुरजाद श्री राज सूं वा दूजा गच्छ रा भटारख आवेगा सो रहेगा," श्री समरण ध्यान देवाजात्रा जठे याद करावसी भूलसी नहीं ने वेगा पदारसी, प्रवानगी पंचोली गोरो समत् १६३५ रा वर्ष आसोज सु० ५ गुरुवार[1]।'

राणा प्रताप के समय में उनके दीवान भामाशाह कावड़िया ने वि०सं० १६४३ माह सुदी १३ को केशरियाजी (धुलेव) मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया।

महाराणा अमरसिंह (वि०सं० १६५३ से १६७६) एवं जगतसिंह (वि०सं० १६८४ से १७०९)

राणा अमरसिंह ने तपागच्छ के भट्टारक विजयरत्नसूरि के उपदेश से पर्युषण पर्व के दिनों में हिंसा नहीं करने (अगता पलाने) का पट्टा जारी किया। खुर्रम ने अपने पिता शहंशाह जहाँगीर के हुक्म से राणा अमरसिंह के विरुद्ध मेवाड़ पर चढ़ाई की। उस समय वि०सं० १६७० में शाही फौजों ने राणकपुर के प्रसिद्ध मन्दिर की खराबी करना शुरू किया तब राणा ने चित्तौड़ के युद्ध में जान देने वाले विख्यात योद्धा जयमल्ल के पुत्र मुकुन्दास को मुकाबले के लिये भेजा। मन्दिर की खराबी करने वाली शाही फौज का मुकुन्ददास ने डटकर मुकाबला किया और अपनी जान दी।[2] राणा जगतसिंह ने आचार्य विजयदेवसूरि एवं विजयसिंहसूरि के उपदेश से वरकाणा (गोड़वाड़) तीर्थ पर पार्श्वनाथ भगवान के जन्मदिवस पर होने वाले मेले में आने-जाने वाले यात्रियों से कर लेना बन्द कर दिया एवं भविष्य में ऐसा कर नहीं लिया जावे इस हेतु इस आज्ञा को शिला पर खुदवा कर मन्दिर के दरवाजे पर लगवा दिया। राणा जगतसिंह

१. राजपूताने के जैन वीर, अयोध्याप्रसाद गोयल, पृ० ३४१, ३४२.
२. मेवाड़ के महाराणा एवं शहंशाह अकबर, राजेन्द्रशंकर भट्ट, पृ० ३६५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के निमन्त्रण पर उक्त आचार्य ने उदयपुर में चातुर्मास किया। चातुर्मास समाप्त होने पर एक रात दल-वदल महल में विश्राम किया, महाराणा जगतसिंह नमस्कार करने गये एवं आचार्य के उपदेश से निम्न बातें स्वीकार कीं—

१. पीछोला तालाब एवं उदयसागर में मछलियों को कोई नहीं पकड़े।
२. राजतिलक के दिन जीवहिंसा बन्द रखी जावे।
३. जन्ममास एवं भाद्रमास में जीवहिंसा बन्द रखी जावे।
४. मचींद दुर्ग पर राणा कुम्भा द्वारा बनवाये गये जैन-चैत्यालय का पुनरुद्धार कराया जावे।[1]

राणा राजसिंह

राणा राजसिंह (वि०सं० १७०६ से १७३७) के समय में राजसमन्द का निर्माण हुआ था। उसी के साथ राणा के दीवान दयालशाह ने दयालशाह का किला नामक बावन जिनालय का एक भव्य देरासर बनवाया। इस सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि राजसमन्द की पाल जैसे ही तैयार होती, पानी आने पर टूट जाती; ऐसी स्थिति में मन्दिर की प्रतिष्ठा की अनुमति को राणा टालते रहे। अन्त में राणा राजसिंह ने दयालशाह की पत्नी पाटमदे (पाटमदेवी) जो धर्मात्मा एवं सती थी उससे पाल की नींव रखवाई एवं रात-दिन काम करवा कर पाल बँधवायी जो चातुर्मास की वर्षा में भी नहीं टूटी। तत्पश्चात् राणा ने इस मन्दिर की प्रतिष्ठा करवाने की अनुमति दी तदनुसार वि०सं० १७३२ वैसाख सुद ७ को विजयगच्छ के भट्टारक विनयसागरसूरि की निश्रा में एवं सांडेराव गच्छ के म० देवसुन्दरसूरि की उपस्थिति में इस मन्दिर की प्रतिष्ठा हुई। महाराणा राजसिंह के समय का एक आज्ञापत्र कर्नल टॉड ने अँग्रेजी में प्रकाशित किया।[2] इससे भी राणा राजसिंह जी की जैन धर्म के प्रति अटूट श्रद्धा प्रकट होती है। यह आज्ञा (फरमान) यति मान के उपदेश से जारी किया गया था। इसमें मुख्य बातें निम्न प्रकार हैं—

"महाराणा श्री राजसिंह, मेवाड़ के दस हजार गाँवों के सरदार मंत्री और पटेलों को आज्ञा देता है, सब अपने-अपने पद के अनुसार पढ़ें—

१. प्राचीन काल से जैनियों के मन्दिरों और स्थानों को अधिकार मिला हुआ है इस कारण कोई मनुष्य उनकी सीमा में जीव-वध नहीं करे, यह उनका पुराना हक है।

२. जो जीव नर हो या मादा, वध होने के अभिप्राय से इनके स्थान से गुजरता है, वह अमर हो जाता है।

३. राजद्रोही, लुटेरे और कारागृह से भागे हुए महाअपराधी को भी, जो जैनियों के उपासरे में शरण ग्रहण कर लेगा, उसको राज्य कर्मचारी नहीं पकड़ेगा।

४. फसल में कूंवी (मुट्ठी), कराना की मुट्ठी, दान की हुई भूमि, धरती और अनेक नगरों में उनके बनाये हुए उपासरे कायम रहेंगे।

५. यह फरमान यति मान की प्रार्थना पर जारी किया गया है, जिनको १५ बीघा धान की भूमि के और २५ बीघे मालेटी के दान किये गये हैं। नीमच और निम्बाहेड़ा के प्रत्येक परगने में भी हर एक यति को इतनी ही भूमि दी गई है। अर्थात् तीनों परगनों में धान के कुल ४५ बीघे और मालेटी के ७५ बीघे।

इस फरमान को देखते ही भूमि नाप दी जावे व दे दी जाय और कोई मनुष्य जतियों को दुःख नहीं दे, बल्कि उनके हकों की रक्षा करे। उस मनुष्य को धिक्कार है जो उनके हकों का उल्लंघन करता है। हिन्दू को गौ और मुसलमान को सूअर और मुदारी की कसम है। संवत् १७४९ (?) महासुदी ५, ई०स० १६९३ (?)। शाह दयाल मंत्री।"

---

१. राजपूताने के जैन वीर, अयोध्याप्रसाद गोयल, पृ० ३४६.
२. एनल्स एण्ड एण्टीक्यूटीज आफ राजस्थान—कर्नल टाड, परिशिष्ट, ५, पृ० ६९७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राणा भीमसिंह और आचार्य भारमल

महाराणा भीमसिंह (वि०सं० १८३४-१८८५) की भी जैन धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा थी। तेरापंथ के द्वितीय आचार्य भारमल जब वि०सं० १८७४-७५ में मेवाड़ में आये, तेरापंथ धर्म उस समय शैशव अवस्था में ही था; किन्तु आचार्य भारमल के प्रभावशाली व्यक्तित्व एवं उनकी सैद्धान्तिक कट्टरता से प्रभावित होकर तेरापंथ के अनुयायियों की संख्या बढ़ने लगी, इससे कुछ व्यक्ति आचार्य भारमल के विरोधी होगये और महाराणा भीमसिंह के कान भरने लगे। राजा कानों का कच्चा होता ही है, उन्होंने झूठी बातों पर विश्वास करके आचार्य भारमल को उदयपुर से निष्कासित कर दिया; किन्तु देवयोग से संयोग ऐसा बना कि मेवाड़ में प्राकृतिक प्रकोप हो गया, सर्वत्र हाहाकार मच गया। महाराणा को अपनी गलती का अहसास हुआ तथा मेवाड़ के राणाओं की जैन धर्म के प्रति श्रद्धा का स्मरण हुआ। उन्होंने तत्काल पत्र भेजकर आचार्य भारमलजी को पुनः उदयपुर पधारने का विनम्र अनुरोध किया, यथा—

श्री एकलिंगजी

श्री बाणनाथजी श्रीनाथजी

स्वस्ति श्री साध भारमलजी तेरेपंथी साध श्री राणा भीमसिंघ री विनती मालूम व्हे। कृपा करै अठै पधारोगा। की दुष्ट वै दुष्टाणो कीदो जी सामुं न्हीं देखेगा। मा सामु वा नगर में प्रजा है ज्यांरी दया कर जेज नहीं करेगा। वती काही लषु। ओर स्माचर स्हा स्वलाल का लष्या जाणेगा। संवत् १८७५ वर्षे आषाढ़ बीद तीज शुक्रे।

इसके बाद भी आचार्य भारमलजी का उदयपुर आना न हुआ, तब वि० सं० १८७६ में पोष वदि ११ को महाराणा ने एक पत्र और लिखा।[1] दूसरे पत्र के बाद आचार्य भारमलजी तो उदयपुर नहीं आये किन्तु मुनि हेमराज व रामचन्द्र आदि तेरह साधुओं को उदयपुर भेजा। एक मास तक ये उदयपुर में ही रहे और इस अवधि में ग्यारह बार महाराणा भीमसिंह स्वयं चलकर इन साधुओं के पास आये और धर्मचर्चा का लाभ प्राप्त किया।[2]

महाराणा जवानसिंह एवं मुनि ज्ञानसारजी

मुनि ज्ञानसार अपने समय के महान् राजस्थानी कवि थे। खरतरगच्छ के आचार्य जिनलाभसूरि ने वि० सं० १८२९ में इन्हें दीक्षा दी। इनका दीक्षा के पूर्व का नाम नारायण था लेकिन दीक्षा के पश्चात् भी अपनी कविताओं में अपने आपको इसी नाम से सम्बोधित किया। कहा जाता है, एक बार आप उदयपुर पधारे, आपकी सिद्धियों एवं सद्गुणों की प्रसिद्धि सर्वत्र व्याप्त थी। जब राणा की कृपारहित राणी ने सुना तो वह भी प्रतिदिन श्रीमद् के चरणों में आकर निवेदन करने लगी कि गुरुदेव कोई ऐसा यन्त्र दीजिए, जिससे महाराणा की अप्रसन्नता दूर हो, श्रीमद् ने बहुत समझाया लेकिन राणी किसी तरह नहीं मानी और यन्त्र देने के लिये विशेष हठ करने लगी। तब एक कागज पर कुछ लिखकर दे दिया, राणी की श्रद्धा एवं मुनिजी की वचनसिद्धि से ऐसा संयोग बना कि महाराणा की राणी पर पूर्ववत् कृपा हो गई। जब यन्त्र वशीकरण की बात महाराणा तक पहुँची और उन्होंने पूछताछ की तो श्रीमद् ने कहा, 'राजन ! हमें इन सब कार्यों से क्या प्रयोजन ?' जाँच करने के लिये यन्त्र खोलकर देखा गया तो उसमें लिखा था कि 'राजा राणी सूं राजी हुवे तो नाराणो ने कई, राजा राणी सूं रूसे तो नाराणो ने कई' इस पर राणाजी आपकी निस्पृहता और वचनसिद्धि से बड़े प्रभावित हुए एवं अनन्य भक्त हो गये।[3]

---

१. तेरापंथ का इतिहास, पृ० १५२.

२. वही, पृ० १५४.

३. ज्ञानसार ग्रन्थावली, श्री अगरचन्द जी नाहटा, पृ० ६१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाराणा सज्जनसिंह, फतहसिंह, भूपालसिंह एवं केशरियाजी तीर्थ

उदयपुर नगर के ४१ मील दूर दक्षिण की ओर प्रसिद्ध केशरियाजी जैन तीर्थ है जिसमें मूलनायक प्रथम तीर्थंकर श्री आदिनाथ एवं चारों और देवकुलिकाओं में चौबीस तीर्थकरों की प्रतिमायें प्रतिष्ठित हैं। इस तीर्थ की महत्ता के सम्बन्ध में सदियों से कई जैनाचार्यों ने रचनाएँ लिखी हैं। वि० सं० १७४४ में सडिरगच्छी मुनि श्री ज्ञानसुन्दर ने डिंगल भाषा में अत्यन्त प्रभावोत्पादक वर्णन किया है एवं बादशाहों के आक्रमण की ओर संकेत किया, वि० सं० १७८३-८४ में तपागच्छी साधु श्री सीहविजय ने 'केसरियाजी रो रास' की रचना की। इस तीर्थ की व्यवस्था एक अर्से से ओसवाल जाति के बापना गोत्री उदयपुर के नगरसेठ द्वारा की जाती थी। यह व्यवस्था वि० सं० १९३४ तक चली आई, इसी दौरान वहाँ के भण्डारियों द्वारा तीर्थ की सम्पत्ति का दुर्विनियोजन करने एवं गबन करने से महाराणा सज्जनसिंह ने १९-११-१८७७ को भण्डारियों को हटा तीर्थ की व्यवस्था हेतु अन्य पाँच ओसवाल साहूकारों की कमेटी नियुक्त की। इस समय से तीर्थ का सामान्य नियन्त्रण मेवाड़ के महाराणाओं का चला आया। इस दौरान जब भी कोई जैन मर्यादा का प्रश्न इस तीर्थ की व्यवस्था हेतु उत्पन्न होता तो जैनाचार्यों से निर्णय कराया जाता, तदनुसार व्यवस्था कराई जाती। संवत् १९६३ में मन्दिर की शुद्धि का प्रश्न पैदा हुआ तो तपागच्छ के मुख्य उदयपुर में स्थित श्री शीतलनाथजी के उपासरे (जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है) के मुनि प्रन्यास श्री नेमकुशलजी के पास निर्णय हेतु भेजा गया और मुनिश्री द्वारा दी गई व्यवस्थानुसर शुद्धि इन्हीं मुनिश्री से कराई गई। संवत् १९७९ में निवैद्य चढ़ाना प्रारम्भ कर दिया गया, इस पर उसी समय कार्तिक शुक्ला १० संवत् १९७९ को यह आज्ञा दी गई कि जैन संघ एवं जैनाचार्य इसके विरुद्ध है, निवैद्य चढ़ाने का यह नवीन कार्य अवांछित है, अतः निवैद्य नहीं चढ़ाया जावे।[1] मेवाड़ के महाराणाओं की जैन धर्म के प्रति भक्ति एव श्रद्धा का प्रमाण मेवाड़ राज्य के गजट नोटिफिकेशन दिनांक १९ अप्रेल १९२६ से भी मिलता है जिसमे यह उल्लेख है कि पवित्र जैन तीर्थ केशरियाजी में महाराणा फतहसिहजी ने साढ़े तीन लाख रुपयों की, सोना, हीरा, जवाहारात की आंगी मूलनायकजी के चढ़ाई, इस कार्य में महाराणी द्वारा ५०००) रु० दिया गया। इस सम्बन्ध में महोत्सव किया जिसका व्यय तत्कालीन महाराजकुमार (श्री भूपालसिंहजी) ने वहन किया। महाराणा के इस कार्य के लिये श्री जैन संघ ने आभार प्रकट किया।

महाराणा फतहसिंहजी एवं भूपालसिंहजी मुनि श्री चौथमलजी महाराज के प्रवचनों से काफी प्रभावित थे, भक्ति से प्रेरित हो उन्होंने प्रत्येक वर्ष पौष कृष्णा १० (पार्श्वनाथ भगवान के जन्म दिवस), चैत्र शुक्ला १३ (महावीर भगवान के जन्म दिवस) एवं जब चौथमलजी महाराज पधारें या विहार करें तब जीवहिंसा बन्द रखने (अगता पालने) की आज्ञा जारी की।

परिणाम : साहित्यिक उपलब्धियाँ

मेवाड़ के महाराणाओं द्वारा जैन धर्म के संरक्षण एवं श्रद्धा का यह परिणाम हुआ कि कई जैनाचार्यों ने मेवाड़ के राणाओं एवं वीरों की वीरता को काव्यबद्ध किया। हेमरत्नसूरि ने 'गोराबादल चरित्र' की रचना की एवं पद्मिनी की लोककथा को काव्यबद्ध किया। जयसिंहसूरि ने दिल्ली के सुल्तान की नागदा (नागद्रह) की लड़ाई, जो राजा जैत्रसिंह के समय विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में हुई, इस विषय में 'हमीर मद मर्दन' पुस्तक लिखी। वि० सं० १३०९ में लिखित पुस्तक 'पाक्षिकवृत्ति' में राजा जयसिंह (जैत्रसिंह) को दक्षिण एवं उत्तर के राजाओं का मान मर्दन करने वाला महाराजाधिराज कहा गया है। सुलतान अलाउद्दीन खिलजी के छोटे भाई उलगखां की चित्तौड़ में वि० सं० १३५६ में राजा समरसिंह के साथ की लड़ाई का वर्णन श्री जिनप्रभसूरि ने अपने 'तीर्थकल्प' में करते हुए लिखा है कि मेवाड़ के स्वामी समरसिंह ने उसे दण्ड देकर मेवाड़ की रक्षा की। वि० सं० १३३० में चैत्रगच्छ के आचार्य

१. १९७३ वीकली लॉ रिपोर्टस, पृ० १००८ (१०१४) उच्चतम न्यायालय का निर्णय, पेरा ११.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रत्नप्रभसूरि ने चीरवा ग्राम के मन्दिर की ५१ श्लोकों की प्रशस्ति की रचना की जिसमें राजा जैत्रसिंह, रत्नसिंह, समरसिंह के उल्लेखनीय कार्यों का उल्लेख किया। चरित्ररत्नगणि ने वि० सं० १४६५ में 'चित्रकूट प्रशस्ति' की रचना की। इस पुस्तक में मेवाड़ के राजवंश का एवं राणा कुम्भा का सुन्दर वर्णन मिलता है। विजयगच्छ के यति मान ने 'राजविलास' काव्य वि० सं० १७३३ में लिखा जिसमें राणा राजसिंह प्रथम का जीवन एवं इतिहास वर्णित है। तपागच्छ के हेमविजय ने मेदपाट देशाधिपति प्रशस्ति-वर्णन विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी में लिखा। शत्रुंजय तीर्थोद्धार प्रबन्ध' में राणा सांगा के लिये अपने बाहुबल से समुद्र पर्यन्त पृथ्वी जीतने वाला लिखा है, और यह बताया है कि लोग उसे चक्रवर्ती मानते थे।

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि मेवाड़ में राज्यमान्यतानुसार जैन धर्म के सब ही समुदाय, गच्छ एवं शाखाओं की मान्यता रही है।

□

यत्राऽहिंसा महादेव्याश्—छत्रच्छाया विराजते।
साम्राज्यं तत्र धर्मस्य, ध्रुवमित्यवधार्यताम्॥

—वर्द्धमान शिक्षा सप्तशती
(श्री चन्दन मुनि विरचित)

जहाँ अहिंसादेवी की छत्रछाया विलसित है, वहीं धर्म का साम्राज्य व्याप्त है, इसे निश्चित मानें।